

# उत्तराखण्ड की जनजातियों में प्रचलित परम्परागत शिल्प एवं उद्योग : एक नृवंशीय अध्ययन

डॉ. प्रवीन जोशी\*

## सारांश

उत्तराखण्ड के उच्च शिखरों में रहने वाली भोटिया, शौका जौनसारी, रवांल्टा जनजाति तथा कुछ अन्य जनजातियों के लोग प्राचीन समय से ही स्थानीय वनस्पतियों का अपने दैनिक उपयोग के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के शिल्प एवं उद्योगों हेतु करते आ रहे हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में उत्तराखण्ड हिमालय की उक्त जनजातियों के मध्य प्रचलित वन्य तथा उगाये गये पौधों पर आधारित परम्परागत उद्योगों जैसे विभिन्न प्रकार के भंगेली शिल्प, रिंगाल उद्योग, बांस उद्योग तथा कालीन उद्योग आदि हस्तशिल्पों की निरन्तरता तथा वर्तमान समय में उनकी उपयोगिता का अध्ययन किया जा है।

उत्तराखण्ड में जनजातियों द्वारा प्राकृतिक स्रोतों के दोहन एवं वन्य पेड़-पौधों का परम्परागत उद्योगों के रूप में प्रयोग को वर्तमान समय में इससे सम्बन्धित प्रचलित पद्धतियों के नृवंशीय अध्ययन के आधार पर समझा जा सकता है। उत्तराखण्ड की जनजातियों द्वारा वन्य तथा उगाये गये पौधों से विभिन्न प्रकार के पेय पदार्थ, मदिरा एवं का निर्माण तथा दैनिक उपयोगिता का अध्ययन भट्ट एवं शिलास (1989-90), बडोनी (2000) तथा जोशी (2002) द्वारा किया गया है। वर्तमान समय में इन जनजातियों द्वारा प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग निम्न प्रकार के शिल्पों में किया जाता है।

### (1) हस्तशिल्प :

उत्तराखण्ड के हस्तशिल्प में स्थानीय वन्य पेड़-पौधों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इन पेड़-पौधों की सहायता से अनेक वस्तुओं जैसे टोकरियाँ, बक्से, बर्तन, थैले, रस्सियाँ, चट्टाईयाँ तथा कपड़े आदि बनाये जाते हैं (सारिणी सं० 1)।

### भंगेली शिल्प :-

उत्तराखण्ड क्षेत्र में प्राचीन काल से ही भांग (Cannabis sativa) से विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनाये जाने की परम्परा रही है। प्राचीन समय में भांग की खेती 'पणि' कहे जाने वाले लोगों द्वारा की जाती थी। जबकि कुमाऊँ में दानपुर, दसोली तथा गंगोली की कुछ जातियाँ भांग के रेशे से कुथले और कम्बल बनाती थी (सक्सेना, 1994)। इसके अतिरिक्त गढ़वाल के चमोली तथा उत्तरकाशी जिलों में भी इनका निर्माण होता था। वैष्णव (1989) के अनुसार पबीला जाति के लोगों द्वारा इसके रेशे से कपड़ा तैयार किया जाता था। वर्तमान समय में भी इसके पौधे की छाल से रस्सियाँ बनती हैं जबकि इसका तना कहीं-कहीं मशाल के काम आता है।

भांग के रेशे से निर्मित वस्त्रों की यह विशेषता होती है कि ये सर्दियों में गर्म तथा

---

\*असिस्टेंट प्रोफेसर इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय चन्द्रवदनी, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड joshigdcc@gmail.com

गर्मियों में ठंडे होते हैं। कपड़े तथा रस्सियों के अतिरिक्त इन रेशों से समान ढोने के लिए थैलों का भी निर्माण किया जाता है।

### वस्त्रों का निर्माण :-

भांग के रेशे से वस्त्रों का निर्माण एक कठिन कार्य है। इसके लिए केवल मोटे तने वाली भांग का पौधा ही प्रयोग में लाया जाता है। जुलाई से सितम्बर माह में पौधों को काट कर चाकू से उसकी छाल को उतार लिया जाता है। जिसे 10 से 15 दिन तक पानी में डुबाकर रखते हैं, प्राप्त मुलायम छाल को लकड़ी के हथौड़े या किसी बड़े पत्थर की सहायता से कूटा जाता है। फिर इसके पतले-पतले रेशे बना लिए जाते हैं, जिन्हें धूप में तब तक सुखाया जाता है जब तक कि इनका रंग भूरा न हो जाय। प्राप्त रेशे को लकड़ी से निर्मित यंत्र 'खमेटी' पर सूत की तरह बट लिया जाता है। खमेटी में रेशे को लपेटने के लिए सांचे की व्यवस्था होती है। इसके पश्चात् धागों को लकड़ी की राख सहित पानी से भरे बर्तन में तीन से चार घण्टे तक उबाला जाता है। फिर सफेदी हेतु धो दिया जाता है। बटे रेशे के गोले बनाकर आवश्यकतानुसार बुनाई कर दरी, पट्टी, कपड़े तथा थैले आदि निर्मित किये जाते हैं।

हालांकि वर्तमान समय में भांग की खेती पर प्रतिबन्ध तथा मशीनों द्वारा कुछ सस्ते बोरे, चटाई इत्यादि के व्यापक प्रचलन के कारण भंगोली शिल्प अपना अस्तित्व खोता जा रहा है। भांग के अतिरिक्त अल् (Giardiana heterophylla), भिमल (Grewia optiva), मालू (Bauhiviea vareigata) तथा रामबांस (Agave americana) आदि के पौधों से प्राप्त रेशे से भी रस्सियां, थैले, बोरे तथा चटाई आदि निर्मित किये जाते हैं।

निर्मित वस्तु	उपयोगी पेड़-पौधे	
	स्थानीय नाम	वनस्पतिक नाम
टोकरियाँ	गो-रिंगाल	<i>Chimonobambusa falcata</i>
	थाम	<i>Dendrocalamus strictus</i>
	बेलकरम	<i>Innocarpus frutescens</i>
	दियो-रिंगाल	<i>Thamnocalamus spathiflora</i>
	गरबिल	<i>Salix elegans</i>
	अरगन	<i>Ulmus wallichiana</i>
बक्से	देवदार	<i>Cedrus deodara</i>
	अखरोट	<i>Juglans regia</i>
	कैल	<i>Pinus wallichiana</i>
	दयूनर	<i>Taxus baccata</i>
बर्तन	पांगर	<i>Aesculus indica</i>
	बुरांश	<i>Rhododendron arboreum</i>
	गेंठी	<i>Boehmeria rugulosa</i>
	सान्दण	<i>Ougeinia dalbergioides</i>
रस्सियां / थैले	अल्	<i>Giardiana heterophylla</i>
	मालू	<i>Bauhiviea variegate</i>
	भांग	<i>Cannabis sativa</i>
	कब्सी	<i>Rhododendron arboreum</i>
	भिमल	<i>Grewia oppositifolia</i>
	रामबांस	<i>Agave americana</i>

चटाईयाँ	भांग	<i>Cannabis sativa</i>
	गो-रिंगाल	<i>Chimonobambusa falcata</i>
	भिमल	<i>Grewia oppositifolia</i>
	दियो – रिंगाल	<i>Thamnocalamus spathiflora</i>
	अल्	<i>Giardiana heterophylla</i>
कपड़े	भांग	<i>Cannabis sativa</i>
	अल्	<i>Giardiana heterophylla</i>

(सारिणी सं० 1) हस्त शिल्प में उपयोगी पेड़-पौधे

### (3) परम्परागत उद्योग :

#### रिंगाल उद्योग :-

अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, चमोली तथा उत्तरकाशी जिलों में रिंगाल (*Chimonobambusa falcata*) के पौधे से विभिन्न प्रकार की वस्तुयें बनाने की परम्परा प्राचीन समय से ही प्रचलित है। रिंगाल या निगांल द्वारा परम्परागत विधि से चटाई (मोस्टा), सूपे, टोकरी (टुपर), छापर (रोटी रखने की छोटी टोकरी), कंडी, ग्वत (मछली पकड़ने हेतु प्रयोग में लाया जाने वाला जाल), कच्यल (कपड़े आदि रखने के लिए बड़ी टोकरी), पड़कण्डी (गोबर या घास ले जाने की टोकरी) आदि का निर्माण किया जाता है।

**निर्माण विधि :-** रिंगाल से वस्तुओं का निर्माण करने के लिए इसको जाड़े के मौसम में काटा जाता है। इस समय इसमें पत्तियां नहीं आती है। रिंगाल या निगांल सामान्यतः तीन मीटर तक लम्बा तथा 8 सेमी. तक चौड़ा होता है। यह बांस से ज्यादा किंतु बेंत से कम लचीला होता है। सामान्यतः दो-तीन वर्ष पुराना हरा रिंगाल ही काटा जाता है, जिसमें नीचे की ओर कलियां न निकली हों क्योंकि कलियां निकलने पर निगांल सख्त हो जाता है तथा उससे बनी वस्तुयें भी मजबूत नहीं होती हैं।

रिंगाल को पतली-पतली पट्टियों में चीर लिया जाता है इसके केवल बाहर की ओर आने वाली पतली चिकनी पर्त का ही उपयोग किया जाता है। इन पट्टियों को गरम या ठंडे पानी से भरे टब में एक से दो घण्टे के लिए भिगाया जाता है, जिससे उनमें कोमलता आ जाती है। फिर पट्टियों की बुनाई की जाती है। इसकी खड़ी पट्टियां 'पाले' तथा आड़ी पट्टियां 'सैया' कहलाती हैं। तली को मजबूती देने के लिए इसकी दोहरी बुनाई की जाती है। टोकरी, डाले, कंडी आदि बनाने के लिए केन्द्र से चारों ओर बुनते हुए परिधि की ओर ले जाया जाता है।

बुनाई की पूरी प्रक्रिया में केवल दो औजारों का ही प्रयोग किया जाता है। एक भारी चाकू तथा दूसरा बुनाई को सघन करने के लिए प्रयुक्त होने वाली लकड़ी जिसे 'सूप का ठोका' कहते हैं।

हालांकि कुछ दशकों पहले तक रिंगाल उद्योग में कभी विपणन का संकट नहीं रहा। पहले स्थानीय माल के आधार पर बना सामान कुमाऊ तथा गढ़वाल क्षेत्र में ही खप जाया करता था। किंतु वन अधिनियम के कारण वनों से रिंगाल को काटने पर

पाबन्दी के कारण छोटे कारीगर न तो ग्राम पंचायत से ही रिंगाल खरीद पाते हैं और न ही वन विभाग से इन्हें कच्चे माल की आपूर्ति ही हो पाती है।

### **बांस उद्योग :-**

कुमाऊँ हिमालय में बांस की अधिकता के कारण रिंगाल शिल्प की तरह बांस उद्योग का भी महत्व है। किंतु यहां बांस उद्योग से केवल हरिजन जाति के लोग ही जुड़े हुये हैं। रिंगाल की ही भांति बांस की बनी हुई वस्तुयें भी टिकाऊ, मजबूत और सस्ती होने के कारण काफी लोकप्रिय हैं। बांस से सूपे, डाले, कंड़ियां, पिटारे तथा सन्दूक आदि बनाये जाते हैं।

### **निर्माण विधि :-**

बांस के कारीगर बांस को चीरकर आवश्यकतानुसार डेढ़ से दो मीटर लम्बी तथा 15 से 20 मिमि. चौड़ी खपच्चियां निकाल लेते हैं। फिर इससे 2 से 3 मिमी. तक मोटाई की खपच्चियां निकाल ली जाती हैं, जिन्हें एक से डेढ़ हफ्ते तक सूखने के लिए धूप में रख लिया जाता है।

इसके पश्चात् इन खपच्चियों की बुनाई कर आवश्यकतानुसार वस्तु तैयार कर ली जाती है। टोकरा अथवा डाला बनाने के लिए तली का दोहरा अस्तर तैयार किया जाता है। तली बनाने के लिए एक के ऊपर दूसरी खपच्ची रख कर एक केन्द्रिय आधार तैयार किया जाता है जिसमें 14 से 16 खपच्चियां होती हैं। इन आधारों को एक दूसरे के ऊपर रखकर बुनाई शुरू की जाती है, जो वर्तुलाकार बुनी जाती है। उनमें क्षैतिज खपच्चियां एक-दूसरे के ऊपर रखी जाती हैं। जिससे डाले को मजबूती प्रदान होती है। तली के पास से शुरू हुई बुनाई को इतनी मजबूती से किया जाता है कि बुनाई में छेद नहीं दिखाई देते।

### **कालीन उद्योग :**

पिथौरागढ़ के शौका एवं चमोली जिले के भोटिया लोगों को ऊन से निर्मित अनेक वस्तुओं के लिए जाना जाता है। प्राचीन काल से ही ये लोग दो प्रकार की भेड़े पालते हैं। एक ऐसी भेड़े जिनसे अच्छी किस्म की ऊन प्राप्त होती है तथा दूसरी ऐसी भेड़े जिनसे सामान ढोने के साथ-साथ मोटा ऊन भी प्राप्त हो सके। हालांकि पहले यह उद्योग तिब्बत से आयात की गई महीन एवं अच्छी किस्म की ऊन पर अधिक आश्रित था। किंतु 1962 के पश्चात् भारत-तिब्बत व्यापारिक मार्ग बंद हो जाने के कारण अब यह उद्योग स्थानीय भेड़ों से प्राप्त ऊन या दूसरे शहरों से आयातित ऊन पर ही निर्भर है (जोशी ए 2002)। स्थानीय बुनकरों द्वारा ऊन से विभिन्न वस्तुयें जैसे स्वेटर, जैकेट, पंखी, शाल, दन, चुटका, कम्बल, पट्टू, कालीन आदि निर्मित की जाती हैं।

### **कालीन का निर्माण :**

सर्वप्रथम भेड़ों से प्राप्त ऊन को गर्म पानी में डुबो कर साफ कर लिया जाता है फिर इसे बांस के डुंडे से पीट-पीट कर इसके रेशे अलग किये जाते हैं। तब इसे एक प्लाई या दो प्लाई की ऊन के रूप में करधे में कात लिया जाता है। कालीन की बुनाई

के लिए सर्वप्रथम इसका आधार जमीन पर ही तैयार कर लिया जाता है। इसको तैयार करने के लिए लकड़ी या लोहे की 25 सेमी. लम्बी तथा एक सेमी. व्यास की लगभग 6 छड़ें (पुसिंग) ली जाती हैं। जिनकी संख्या कालीन की लम्बाई के हिसाब से ज्यादा भी हो सकती है।

इन पुसिंग को जमीन में गाड़ने के पश्चात् आवश्यकतानुसार मोटे सूत की आधार भूमि तैयार करने के लिए फंदेनुमा धरातल, जिसे क्रासिंग कहते हैं, बनाया जाता है। क्रासिंग के फंदे किसी अनुभवी व्यक्ति द्वारा ही डाले जाते हैं। प्रथम चरण में यह क्रासिंग निकालने के पश्चात् उसमें मोटा सूत डाल दिया जाता है। दूसरी क्रासिंग में रिंगाल की छड़ डाल दी जाती है, जिसे 'जुम्मर' कहते हैं। तीसरी क्रासिंग में भी लकड़ी की मोटी छड़ 'बही' डाल दी जाती है। इसके पश्चात् इन सब को एक प्रकार के लकड़ी के यंत्र 'अड्डे या रांच' में डाल दिया जाता है, जिसमें बुनाई की जाती है। बुनाई को सघन करने या ठांसने के लिए बांस या तुन की लकड़ियों का भी प्रयोग किया जाता है।

सामान्यतः तीन तरह की शैलियों— धारचूला शैली, मुंशयारी शैली तथा भदोही शैलियों से कालीन की बुनाई की जाती है। भदोही तथा धारचूला शैली से यद्यपि बुनाई जल्दी हो जाती है किंतु इनमें वह मजबूती नहीं होती है जो मुंशयारी शैली से निर्मित कालीनों में होती है।

मुंशयारी शैली के कालीनों में यद्यपि रंगों का संयोजन बुनाई करने वाले पर निर्भर रहता है। लेकिन सामान्यतः जो नमूना प्रयोग किया जाता है। इसमें किनारे से अंदर की ओर क्रमानुसार चार इंच की लाल पट्टी छोड़ी जाती है। इसके बाद सफेद रंग की रेखायें तथा फिर ल्हासागढ़ी (ल्हासा डिजाइन) की तीन से चार इंच में बुनाई की जाती है। इसके पश्चात् जंजीर, जिसे दलपूकांगर कहा जाता है, बुनते हैं। फिर चारों कोनों पर मनचाही डिजाइन बनाई जाती हैं।

तानों को कसने और उन्हें सघन करने के लिए ब्रुश जैसे यंत्र का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी पर बने इस यंत्र में जानवरों के नाखून की तरह मोड़कर ब्लेड लगाये जाते हैं जिनकी लम्बाई लगभग 4 से 5 इंच तक होती है। फंदों को काटने के लिए 'J' आकार का धारदार चाकू प्रयोग में लाया जाता है। विशिष्ट प्रकार से फंदा लगाने के बाद बही पर उसे चाकू से काटा जाता है। पूरी लाइन में फंदे डालकर उसे बुनने के पश्चात् सूत से बाना डाला जाता है। बुनाई करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि पीछे की ओर सूत न दिखाई पड़े। अतः कालीन को सघन करने के लिए पतला सूत डालने के साथ-साथ उसे भी अच्छी प्रकार से सघन किया जाता है। किनारे पर गांठ लगाकर लाइन को बंद कर दिया जाता है। हालांकि वर्तमान समय में ऊन को कृतिम रंगों से रंगा जाता है लेकिन पहले इसे श्यामा, डोलू, अखरोट, काफल तथा किन्नोड़ आदि के पौधे से तैयार प्राकृतिक रंगों से रंगा जाता था।

## निष्कर्ष :

यद्यपि उत्तराखण्ड में जंगली पेड़-पौधों का भोजन एवं औषधीय रूप में उपयोग सम्बन्धी प्राचीनता का निर्धारण करना कठिन है किन्तु नृवंशीय अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उत्तराखण्ड हिमालय के स्थानीय निवासियों द्वारा लगभग 200 वर्षों से परम्परागत उद्योगों हेतु वन्य तथा उगाये पौधों का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जा है, जिनका न केवल उनके दैनिक जीवन में उपयोग है अपितु धार्मिक महत्व भी है। हालांकि समय के साथ-साथ इन परम्परागत पद्धतियों का ह्रास हो रहा है।

## सन्दर्भ सूची

भट्ट, के. सी. एवं शिलास, आर. ए. (1989-90) :- “ट्रेडिशनल वैजरेज एण्ड दियर इम्पोर्टेन्ट इन द फोक लार्इफ ऑफ भोटियाज इन यू. पी. हिमालयाज”, जनरल ऑफ हिमालयन स्टडीज एण्ड रिजीनल डेवलपमेन्ट, भाग - 13-14, पृ. 56-62।

बडोनी, ए. के. (2000) :- “इथनोबॉटनीकल हैरिटेज”, इन गढ़वाल हिमालय : नेचर, कल्चर एण्ड सोसाइटी, कण्डारी (ओ. पी. एवं गुसाईं, ओ. पी. सम्पादित), ट्रांस मीडिया, श्रीनगर गढ़0, पृ. 127-146।

जोशीएपी. (2002) :- “मध्य हिमालय का नृवंशीय पुरातात्विक अध्ययन”, शोध प्रबन्ध, हे0 नं0ब0 गढ़वाल वि0वि0, श्रीनगर गढ़0,।

सक्सेना, के. के. (1994) :- कुमाऊं कला, शिल्प और संस्कृति, श्री अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा।

वैष्णव, वाई. डी. (1989) :- “लैंड एण्ड पिपुल ऑफ हिमालयन डिस्ट्रीक्स”, अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोड़ा।

# “मानव—मन और चित्रकला”

डॉ० पूर्णिमा पाण्डे\*

“मानव—मन और चित्रकला” शीर्षक से प्रबुद्ध पाठकों को यह आभासित हो सकता है कि प्रस्तुत आलेख का विषय कला—मनोविज्ञान (Art-Psychology) से सम्बन्धित है अथवा यहां मानव—मन और चित्रकला के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार किया गया है, किन्तु ऐसा नहीं है। इस आलेख में मानव—मन तथा चित्रकला के अन्तर्सम्बन्ध पर वस्तुपरक दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयास है एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

समस्त कलामर्मज्ञ तथा विशेषज्ञगण एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि कला (यहां चित्रकला) मानव—मन का उत्पाद है। मानव—मन इस उत्पादन का उपभोक्ता है तथा इसके द्वारा प्रभावित भी होता है।<sup>1</sup> इस स्थिति पर विचार करने से तीन प्रश्न सामने आते हैं—

- 1— मानव—मन चित्र की सृष्टि कैसे करता है?
- 2— मानव—मन चित्र का उपयोग कैसे करता है?
- 3— मानव—मन चित्र द्वारा कैसे प्रभावित होता है?

मानव—मन चित्र की सृष्टि कैसे करता है इस विषय में प्राचीनकाल से विचार होता रहा है। चित्रकार किसी दैवी शक्ति (Supernatural Power) से चित्र—रचना करता है सम्भवतः इस आदिम विश्वास से परवर्ती काल में चित्रकला की दैवी उत्पत्ति का तत्व विकसित हुआ था। 8वीं शताब्दी ई०पू० के यूनानी कवि हेसिओड (Hesiod) तथा इलियाड एवं ओडिसी के प्रसिद्ध लेखक होमर (Homer) एवं होमर कालीन अन्य कवि, लेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ, वादकों की यह धारणा थी कि कला देवियों (Muses) के आशीर्वाद से ही कोई चित्रकार, मूर्तिकार, कवि या संगीतज्ञ बनता है।<sup>2</sup> प्राचीन भारत में भी उपनिषद् युग में ऐसे विचार मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्पष्ट कथन है ‘दिवतशिल्पम् अवतलम्’<sup>3</sup> अर्थात् शिल्प स्वर्ग से अवतरित हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसे विचार प्राप्त होते हैं— ‘यैद्वप्रतिरूपम् तच्छिल्पम्’ (शतपथ ब्राह्मण)<sup>4/5</sup> अर्थात् शिल्प प्रकृति की प्रतिच्छवि है। इन विचारों के विरोध में महर्षि गांगार्यायन ने पूर्णतः भाववादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। उनका कथन था कि मनुष्य का मस्तिष्क एक दैवीय तत्व है जो प्रकृति पर निजी विचार और दृष्टि आरोपित करता है। कौषीतकी उपनिषद् में महर्षि गांगार्यायन की यह उक्ति विचारणीय है। ‘मानसी प्रतिरूपा चक्षुषी’ जो कुछ वास्तविक या दृश्यमान है, मन की प्रतिच्छाया है। ऐतरेय आरण्यक में महर्षि महीदास ने पूर्णतः भिन्न विचार व्यक्त किये हैं।<sup>6</sup> वे दृश्यवस्तु के अस्तित्व का कारण दर्शनेन्द्रिय को मानते हैं तथा स्वर के

\*चित्रकला विभाग, बिड़ला परिसर, हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल।

अस्तित्व के लिये श्रवणेन्द्रिय को आवश्यक बताते हैं। इन परस्पर विपरीत विचारों का एकीकरण महान दार्शनिक प्रतर्दन ने किया था। उनका मानना था कि आंख देखती है, कर्णोन्द्रिय सुनती है तथा स्वर भी है। अर्थात् ये सभी यथार्थ हैं। कान हैं— हम सुनते हैं। आंख है— हम देखते हैं। वस्तु है संगीत है तभी हम देखते सुनते हैं। यह सभी मानसिक प्रक्रिया हैं जो दैवी सत्ता की देन हैं।<sup>7</sup>

प्राचीन यूनानी चिन्तक गेडेस आदि ने दैवी सत्ता (कलादेवियां—Muses) द्वारा मानव—मन को रचना करने की प्रेरणा प्राप्त होने के प्रति विश्वास व्यक्त किया था। यही विश्वास कालान्तर में प्लेटो के 'दैवी पागलपन' (Divine Madness) के विचार का आधार बना।<sup>8</sup>

किसी चित्र की रचना प्रक्रिया पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम मस्तिष्क में एक बिम्ब का अंकुरण होता है। यह बिम्ब कल्पना तथा स्मृति द्वारा पोषण प्राप्त कर पल्लवित होता है अर्थात् आरम्भिक अस्पष्ट बिम्ब क्रमशः सुस्पष्ट होता जाता है। इस तरह विकसित होने के उपरान्त मस्तिष्क द्वारा निर्देशित हस्त—संचालन से तूलिका—लेखनी आदि की सहायता से मस्तिष्क में पल्लवित बिम्ब रेखा, रंग सहित मूर्त रूप धारण करता है।

यह आधुनिक विचार जैसा जान पड़ता है, किन्तु ऐसा नहीं है। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने तथा उनके एक हजार वर्ष बाद बुद्धघोष ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। इन्हें निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्टता से समझा जा सकता है—

“परन्तु गौतम बुद्ध ने किसी दैवी सत्ता को नहीं माना और इसलिये उनके समक्ष कला के विषय निर्धारित करने के मामले में दैवी आकांक्षा या उद्देश्य पर ध्यान देने का प्रश्न ही नहीं था। इसीलिये वह यह स्वीकार करते से प्रतीत होते हैं कि कला मानवीय चिन्तन और कल्पना से पैदा होती है। इस प्रकार वह ‘चरण चित्र’ नामक चित्रकला की चर्चा करते समय स्पष्ट करते हैं कि ‘चरणम् चित्तम् चित्तेनेव चिंतितम्’ अर्थात् ‘चरणचित्र’ की बात मनुष्य की चेतना से सोची गई है। एक दूसरे स्थान पर किसी मानव आकृति के चित्रण को लेकर बुद्ध यह मानते हैं कि केवल मस्तिष्क (मनमत्तक) की अभिव्यक्ति या उसके वर्णन के रूप में तथा एक ऐसे तत्व के रूप में इसकी पहचान हो सकती है जो किसी प्रत्यक्ष आधार (अवत्थुक) के बिना ही स्मृतिपरक या उल्लेख योग्य (उद्देशिक) होती है। बुद्ध की इस मान्यता पर टिप्पणी करते हुए लगभग एक हजार वर्ष के बाद बुद्धघोष ने कहा कि चित्रकला के किसी अंश में, अर्थात् जिसे ‘चरणचित्र’ कहा गया है, जैसी सर्वोत्तम कला चित्रित है वैसी हस्तकला का उदाहरण विश्व में अन्यत्र नहीं है। ऐसा चित्र अंकित करते समय रंगकर्म के मस्तिष्क में जो विचार जाग्रत होता है वह यह कि ‘इस चित्र में ऐसा या इस तरह के रूपों का अंकन करना है। ऐसा विचार उठने पर ही रेखाओं का अंकन, रंगकर्म, चमक आदि विस्तृत कार्य पूरे होते हैं। जिसकी परिणति ‘चरण—चित्र’ की आश्चर्यजनक प्रस्तुति में दिखती है। इसे चित्र के ऊपर रखो, उसे चित्र के नीचे रखो,



चित्र का इस प्रकार का अन्तिम परिष्कार विचार के अनुसार ही किया जाता है। इसी प्रकार विश्व में जितने भी कलागत उत्पादन हैं उन सभी का निर्माण मस्तिष्क से ही होता है। (चित्तेनेव चिंतितं चित्तकारेण चिंतित्वाकतत्ता, चित्तेनचिंतितम् नाम)''<sup>9</sup>

प्रसिद्ध रोमन कवि ल्यूक्रेटियस (Lucretius) ने यद्यपि अपनी कविता का आरम्भ देवी के आह्वान से करते हुए तत्कालीन परम्परा का निर्वाह किया था किन्तु दैवी-तत्त्व की प्रेरणा को न मानते कहा— “Man has originated them (Languages, Arts) himself by accident, reason, skill and industry.”<sup>10</sup>

समाहारतः उपर्युक्त विचारों के सार रूप में यदि यह मान लिया जाये कि मानव कला का सृष्टा है तो यह जिज्ञासा अवश्य होगी कि मानव मन में कला का बीज या बिम्ब कैसे अंकुरित होता है। हम चतुर्दिक रूप-रंग तथा ध्वनियों से घिरे हुये हैं। ऐसी किसी वस्तु, प्राणी या विषय की धारणा हम नहीं कर सकते जो रूप विहीन है, जिसका कोई रंग नहीं या जिसका कोई नाम नहीं है। हमारे प्रत्यक्षण का आधार यही है। हम अपने अनुभव से यह भी जानते हैं कि संवेदनशीलता का स्तर सभी व्यक्तियों में एक समान नहीं होता। अधिक संवेदनशील व्यक्ति प्रत्यक्षण से प्राप्त अनुभव की ओर अधिक आकृष्ट होता है तथा उस पर विचार करने लगता है। कम संवेदनशील मनुष्य अपने अनुभवों पर अधिक ध्यान नहीं देता है। यहां पर ध्यान में रखना आवश्यक है कि व्यक्ति विशेष की शारीरिक स्थिति, पारिवारिक-सामाजिक परिवेश, आस्था-विश्वास, शिक्षा आदि विभिन्न कारक संवेदनशीलता के स्तर को बनाते हैं। अर्थात् इनके प्रभाव ही व्यक्ति में संवेदनशीलता की मात्रा घटती या बढ़ती है।

आकार विशेष पर विचार करने से मस्तिष्क में बिम्ब बनता तथा विकसित होता है किन्तु चित्र की रचना के लिये इतना पर्याप्त नहीं है। मस्तिष्क स्थित बिम्ब को मूर्त रूप देने के लिये रचना-कौशल अपेक्षित है। मानसिक बिम्ब को चित्र रचना के घटक तत्वों एवं उपादानों के प्रयोग से प्रत्यक्ष करने के कौशल का ज्ञान होना चित्र की रचना के लिये आवश्यक है। इसके लिये प्रशिक्षण तथा निरन्तर अभ्यास अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में प्राचीन शिल्पग्रन्थ मानसोल्लास के लेखक सोमेश्वर देव के विचार उल्लेखनीय हैं। इन्होंने आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व कहा था कि कोई व्यक्ति चित्रकला के समस्त ज्ञान का अधिकारी होने पर भी चित्ररचना का कौशल जाने बिना चित्र नहीं बना सकता है।

वर्तमानकालीन वैज्ञानिक चिन्तन से पूर्व भी चित्र रचना के सम्बन्ध में विचार किया गया था। ये विचार कल्पना आश्रित भावात्मक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किये गये थे। कुछ विद्वान इसे ईश्वरीय वरदान मानते थे (कान्ट) तो कुछ की दृष्टि में यह मानव मन के गहन तल में छिपी कामना-वासना का प्रतीकात्मक ब्राह्मीकरण था (सिगमण्ड फ्रायेड) अथवा कोई इसे विश्वमन (युंग, हेगेल) से जोड़ते थे। आज विज्ञान की सहायता से सुस्पष्ट रूप से यह जानना सम्भव हुआ है कि चित्र की रचना पूर्णतः एक मनो-दैहिक (Psycho-physical) प्रक्रिया है।<sup>11</sup>

चित्र के निर्माण या उत्पादन के पश्चात् उसके उपभोग का चरण आरम्भ होता है। निजी अनुभव से हम जानते हैं कि इस प्रक्रिया में भी व्यक्ति-वैभिन्य से स्थितियां बदलती हैं जैसे कोई व्यक्ति चित्र देखने के प्रति किंचित रुचि नहीं लेता, कोई चित्र देखता है परन्तु उसके प्रति संवेदित नहीं होता। कोई अन्य चित्र को ध्यानपूर्वक देखकर इस पर विचार आरम्भ करता है। इसी प्रकार चित्र के प्रति आकर्षित होने के कारण भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं जैसे कोई आकार से प्रभावित होता है तो किसी को चित्र में अन्तर्निहित विचार, रंग प्रयोग, प्रस्तुति कौशल आदि आकृष्ट करते हैं। इस रुचि-वैभिन्य को बनाने में भी व्यक्ति विशेष की मानसिक, शारीरिक, सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक स्थितियां तथा परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।<sup>12</sup>

यहां यह कहना आवश्यक है कि चित्र बनाना एक मनोदैहिक प्रक्रिया है किन्तु कलाकृति को देखना-उपभोग करना पूर्णतः मानसिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया देखने से आरम्भ होती है। चित्रांकित आकार से परावर्तित होकर प्रकाश-किरण आंख में पड़ती है और मस्तिष्क में उसका प्रतिबिम्ब बनता है। पहले आकार का बिम्ब बनता है इसके बाद रंग इत्यादि विवरण उसे पूर्ण करते हैं। मस्तिष्क इस बिम्ब का स्मृति में संचित दूसरे आकारों से मिलान करता है। प्रत्येक मानव के मन में विभिन्न विषयों का एक निर्धारित मानक रहता है जो व्यक्ति से सम्बन्धित विभिन्न कारकों से बनता है। चित्र-बिम्ब मानक के अनुरूप हो तो देखने वाला चित्र को सुन्दर, कलात्मक तथा रुचिपूर्ण कहता है ऐसा न होने पर मन चित्र को अस्वीकार कर देता है। मानव-मन का यह मानक पूरी तरह व्यक्ति सापेक्ष है किन्तु कुछ सर्वमान्य मानक भी हैं जो सामान्यतः व्यापक स्तर पर प्रभाव-सृष्टि करते हैं। चित्रित आकृति तथा परिमाण, चित्र में सममितता (Symmetry) का प्रभाव, विचार का नयापन इत्यादि ऐसे मानक हैं।<sup>13</sup>

चित्र को देखते समय दृष्टिपटल पर बनने वाले आकार की मस्तिष्क में संचित आकार विशेष से समतुल्यता होने पर वह अच्छा जान पड़ता है। यहां उल्लेखनीय है कि अनेक बार चित्रकार जानबूझकर रचना में विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये चित्रित आकृति का कुछ परिमाण बदल देते हैं तथा शेष को यथार्थ के अनुरूप बनाते हैं। इसे समझने के लिये नवजागरणकालीन इटेलियन चित्रकार बोत्तिसेल्ली (Sandro Botticelli) के प्रसिद्ध चित्र 'The Birth of Venus' को याद कर सकते हैं जिसमें वीनस की सामान्य परिमाण से भिन्न गर्दन आकृति को विशिष्टता देती है। ध्यानाकर्षण के विचार से भी चित्र में सामान्य मानकों से भिन्न स्थितियां प्रस्तुत की जाती हैं। प्राचीन शिल्पग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में मार्कण्डेय ऋषि का अत्यन्त स्पष्ट कथन है कि कला प्रशिक्षु को मान-प्रमाण (परिमाण अनुपात) अवश्य कंठस्थ करना चाहिये किन्तु कुशल कलाकार चित्र की सौन्दर्य वृद्धि के लिये इसमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है।<sup>14</sup> प्राकृतिक संरचनाओं को देखकर मनुष्य ने सममितता का ज्ञान प्राप्त किया तथा अपनी कला में यह प्रभाव प्राप्त करने के लिये निर्दिष्ट मानक बनाये हैं। प्रसंगानुसार यह विचारणीय है कि रंग यद्यपि दृष्टि को

अत्यन्त प्रभावित करते हैं किन्तु मन में इनके सम्बन्ध में विचार सबसे अन्त में होता है। रंग देशकाल स्थान के अनुसार बदलते हैं। इनका प्रभाव सार्वजनिक नहीं होता उदाहरण के लिये सफेद रंग किन्ही समुदायों के लिये आनन्द का सूचक है तो कहीं वह शोक को अभिव्यक्त करता है। यहां यह भी विचारणीय है कि रंग सम्बन्धी विचार हमारी मानसिक धारणा मात्र है। विभिन्न रंगों का अर्थ है विभिन्न प्रकार की विद्युत चुम्बकीय तरंगें (Electro Magnetic Waves) विभिन्न तरंग-दैर्घ्य (Wave Length) से हमारी दृष्टि विभिन्न प्रकार से संवेदित होती है तथा हमें रंग विशेष का अनुभव होता है। व्यक्ति-विभेद से इसमें भिन्नता आती है। प्रत्यक्षण से मिलने वाले अनुभव से कुछ रंग हमारे मस्तिष्क में मानक रूप में स्थिर हो जाते हैं जैसे आकाश का नीलारंग या विभिन्न देशों के निवासियों की त्वचा का निर्दिष्ट रंग आदि। चित्र रचना में अनेक बार मानकों के अनुसार रंग प्रयोग नहीं किया जाता है किन्तु इसे चित्रदोष नहीं माना जाता है।<sup>15</sup>

रंग के समान चित्र के विषय से सम्बन्धित निर्धारित मानक भी नहीं है। चित्र निर्माण का अभिप्रेत क्या है इसे लेकर दर्शक एक धारणा बना लेता है। यह धारणा चित्र के निर्माणकर्ता की धारणा से मिलती हो यह आवश्यक नहीं। यही कारण है कि एक ही चित्र का आस्वादन विभिन्न अर्थों में होता है। चित्रित विचार को समझने हेतु ध्यानपूर्वक देखना तथा विचार करना आवश्यक है। इसे विचार कर आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के रस निष्पत्ति प्रसंग में 'सहृदय रसिक' उसे कहा है जो प्रकृत अर्थ में रसास्वादन करने में समर्थ हो। आचार्य भरत के पूर्णतः वस्तुपरक विचार को बाद में नाट्यशास्त्र के भाववादी टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने रसास्वादन से मिलने वाले आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहकर ब्रह्म प्राप्ति के आनन्द के समतुल्य बना दिया।<sup>16</sup> 18वीं शताब्दी के जर्मन भाववादी चिन्तक काण्ट (Immanuel Kant) की 'Theory of Taste' में इसी प्रकार के चरम आनन्द का उल्लेख है।<sup>17</sup>

कोई चित्र मानव मन को किस प्रकार प्रभावित करता है इस पर विचार करने से पूर्व यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्राचीन चिन्तक इस से पूरी तरह अभिज्ञ थे।

'आत्मानां संस्कुरुते कला' कहकर जब ऐतेरेय ऋषि ने<sup>18</sup> आत्मा अथवा मन को संस्कारवान बनाने में कला की भूमिका बताई तब दूसरे शब्दों में वे कला की प्रभावकारिणी क्षमता का ही उल्लेख कर रहे थे। प्रसिद्ध प्राचीन यूनानी कवि पिण्डर (Pinder) ने श्रोता के मन पर गीत-वाद्य का प्रभाव बताते हुये 'Ode to King Hiero of Etna' में लिखा था— "अपोलो का सुमधुर गीत और महान कला देवी का वीणा वादन महान देवराज वज्र के तेज को प्रशमित करते हैं। इसके प्रभाव से वे आनन्ददायक सुखनिद्रा में चले जाते हैं। उग्र देवता एरेस (यूनानी युद्ध देवता) अपना सुतीक्ष्ण भाला दूर रखकर आनन्दमय विचारों में खो जाते हैं।"<sup>19</sup>

कला की इस क्षमता को समझकर आरम्भिक बौद्ध-जैन मतों में कला में संलग्नता को धार्मिक और आध्यात्मिक अनुशासन के मार्ग में बाधा माना गया था। संगीत को सम्मोहित करने का साधन माना जाता था जिससे केवल 'मुहूर्त सुख'

मिलता था। अन्य कलाएं भी इन्द्रिय सुख—वासना का साधन थीं। बाद में वेदान्तियों ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया। कला के प्रभाव के प्रति इस विचारधारा से बिल्कुल भिन्न एक अन्य प्रकार का चिन्तन भी था जहां कला की मानव मन को प्रभावित करने की क्षमता का उपयोग इन धर्माचार्यों द्वारा व्यापक रूप से धर्म के प्रचार में किया गया तथा जन सामान्य में सम्राट या राष्ट्राध्यक्ष के प्रति सम्मान, श्रद्धा या भय का संचार करने के लिये राष्ट्रयंत्र द्वारा भी कला का प्रचुर उपयोग हुआ। कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि विश्व में प्राचीन काल से संचित सुविशाल कला भण्डार का एक बड़ा अंश मानव मन को प्रभावित करने में कला के उपयोग के रूप में मिलता है।

उल्लेखनीय है कि प्लेटो के परवर्ती नवप्लेटोवादी विचारकों ने कला की क्षमता को आध्यात्मवाद से जोड़ने का प्रयास किया। प्लेटो, प्लॉटिनस, सेन्ट थामस एक्विनास आदि कला के प्रभाव को विश्वात्मा से प्रेरित मानते थे किन्तु ल्यूक्रेटिस ने मानव मन पर कला के प्रभाव का वस्तुपरक विचार दिया।<sup>20</sup> कान्ट ने ज्ञानमीमांसा (Epistemology) तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) विशयक विचारों में तथा हीगेल ने इसे पूर्णतः आध्यात्मिक विषय बना दिया था।<sup>21</sup> ग्यारहवीं सदी के प्रसिद्ध भारतीय चिन्तक अभिनव गुप्त ने आचार्य भरत के रस निष्पत्तिवाद की व्याख्या करते हुये कला के रसास्वादन को ब्रह्मानन्द के समकक्ष रखकर भाववादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था।<sup>22</sup> कालान्तर में देकार्त, पास्कल, स्पिनोजा, बेकन, लाइबनिज, हाब्स एवं लॉक आदि दार्शनिकों ने इस विषय पर विचार करते हुए विभिन्न दृष्टिकोण सामने रखे। इनमें जॉन लॉक के विचार विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।<sup>23</sup> 18वीं शताब्दी के इस चिन्तक ने सबसे पहले कला के रसास्वादन को इन्द्रियग्राह्य अनुभव का विषय कहा था। बाद के काल में डेविड ह्यूम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Standard of Taste' में लॉक के विचार को तर्कों तथा उदाहरणों से अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया था। मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'Theory of Association' कहते हैं।<sup>24</sup> सिगमण्ड फ्रायड तथा युंग आदि के मनोविश्लेषण—आधारित विचारों में कला के आस्वादन को चेतन तथा अवचेतन मन की अन्तः क्रिया का फल कहा है।<sup>25</sup>

यहां विद्वानों द्वारा विभिन्न कालों में विभिन्न दृष्टिकोणों से किये गये विचारों की चर्चा का उद्देश्य कलाकृति के आस्वादन के सम्बन्ध में दीर्घकाल से किये जा रहे चिन्तन की ओर ध्यान आकर्षित करना है। इस विषय में व्यापक मत वैभिन्न्य रखते हुए भी सभी चिन्तक एक विषय में सहमत हैं कि कला (चित्रकला) मन को प्रभावित करती है।

एक चित्र में हम उसके विविध अंगों जैसे— आकृति, भंगिमा, रंग, विषय आदि को अलग—अलग कर नहीं देखते हैं। समग्र चित्र हमारे दर्शन या विचार का विषय बनता है। मस्तिष्क में बनने वाला बिम्ब सम्पूर्ण चित्र का होता है, अंश का नहीं। दूसरी संवेदनाओं के समान चित्र—बिम्ब भी मस्तिष्क में आवेग (Impulse) की सृष्टि करता है। आवेग क्षीण हो तो मन उसे कोई महत्व नहीं देता। तीव्र आवेग मस्तिष्क की विभिन्न रस ग्रंथियों (Glands) को सक्रिय करता है। कौन सी रस—ग्रंथियां सक्रिय

होंगी यह चित्र—बिम्ब, चित्र के विषय, चित्र में प्रयुक्त रंगों की प्रबलता चित्र और दर्शक के बीच के अन्तराल आदि पर निर्भर करता है। चित्र किस सामाजिक—सांस्कृतिक परिवेश में देखा जा रहा है इसका प्रभाव भी पड़ता है। कोई चित्र दर्शक के मन में कामना—वासना का उद्रेक करता है तथा किसी से दुख, क्रोध, घृणा, हिंसा आदि की उत्तेजना जागृत होती है। किसी चित्र को देखकर शान्ति, स्थिरता समरसता आदि के भाव आते हैं। यहां भाव (Emotion) के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भाव रस—ग्रन्थियों से स्रवित रस के शरीर के रक्त—स्रोत में मिश्रित होने से बनने वाला प्रभाव है।<sup>26</sup>

यहां यह विचार सामने आता है कि मस्तिष्क एक उच्च स्तरीय यंत्र है यह विभिन्न चित्रों के पार्थक्य को किस प्रकार समझ पाता है। वस्तुतः मस्तिष्क को समझने की आवश्यकता नहीं होती वह केवल स्मृति में संचित विभिन्न विषयों से सम्बन्धित तथ्यों या सूचनाओं से तुलना कर निर्णय लेता है कि किस रस—ग्रन्थि को सक्रिय करना है। विचारणीय है कि यहां भी दर्शक की शारीरिक, मानसिक, परिवेशजन्य स्थितियां तथा शैक्षणिक—अभिज्ञता आदि कारक निर्णायक होते हैं। इसीलिये कुछ व्यक्तियों को अत्यन्त विख्यात चित्र बिल्कुल सामान्य जैसे लग सकते हैं या अत्यन्त सामान्य रचना किसी को बहुत विशिष्ट लग सकती है इसे समझाने के लिये यह कहा जाता है कि जो चित्रभाषा को जानते हैं या दृष्टि साक्षर हैं वे ही चित्र को पूरी तरह समझ पाते हैं अन्य की पैठ वहां आंशिक या अल्प ही होती है। चित्र के प्रति विभिन्न प्रकार से संवेदित होने वाले दर्शक वर्ग के सम्बन्ध में विशुद्धमोर्त्तर का कथन विचारणीय है—

**‘रेखां प्रसंशन्ति आचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।**

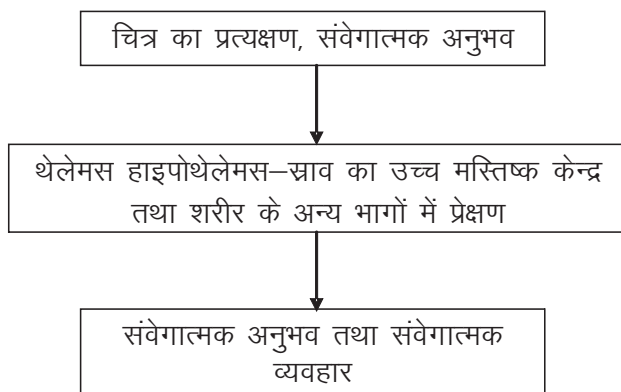
**स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः।।’ 41/11<sup>27</sup>**

किसी चित्र रचना का उपभोग करना तथा उससे प्रभावित होना एक जैसा जान पड़ता है किन्तु ये दोनों वस्तुतः भिन्न मानसिक स्थितियां हैं। चित्र के आकार, रंग, विषय, संयोजन आदि का उपभोग कर सन्तुष्टिजनित आनन्द की उपलब्धि करना पूरी तरह आत्मगत (Subjective) है जबकि चित्र के प्रभाव से उत्पन्न आवेग एक भिन्न स्थिति है। उपभोग प्रथम चरण है जिसके बिना प्रभावित होना अर्थात् दूसरा चरण सम्भव नहीं है। उपभोग से भाव की अनुभूति होती है जिसकी तीव्रता आवेग को जन्म देती है। सामान्यतः भाव से शारीरिक परिवर्तन नहीं होता किन्तु संवेग शारीरिक परिवर्तन ले आता है। जब आत्मगत भाव (Subjective Feeling) की अधिकता हो तब दर्शक की हृदयगति, रक्त—रसायन, त्वक—प्रतिक्रिया, मानसिक तरंग एवं ग्रन्थियों की प्रक्रियाएं परिवर्तित होती हैं। वर्तमान काल से पूर्व इस विषय पर केवल तात्त्विक विचार करना सम्भव था किन्तु अब यंत्रों की सहायता से इन परिवर्तनों को मापना सम्भव है।<sup>28</sup>

इलेक्ट्रोकाडियोग्राम (ECG) से हृदयगति, साइकोगेल्वेनोमीटर से त्वकीय ताप, शरीर की सिहरन या रोमांच का परिमापन सम्भव है।<sup>29</sup>

इलेक्ट्रोकाडियोग्राम से मस्तिष्क में तरंग पथ का परिवर्तन ज्ञात होता है। इलेक्ट्रोमायोग्राफ (EMG) नामक यंत्र आंखों के घुमाव, मांसपेशियों के तनाव की सूचना देता है। आधुनिक वैज्ञानिकों, विशेष रूप से गैस्टाल्ट (Gestalt) वैज्ञानिकों ने मानव मन पर विभिन्न प्रकार के चित्र, ज्यामितिक आकार तथा रंग के प्रभाव से सम्बन्धित परीक्षण किये हैं। किसी चित्र को देखने से मस्तिष्क में होने वाली प्रक्रिया के सम्बन्ध में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध मनोविज्ञानिक वाल्टर बी कोनॉन (Walter B. Cannon) ने 1927 में सिद्धान्त प्रस्तुत किया था बाद में फिलिप बॉर्ड (Philip Bard) ने इसका समर्थन किया।<sup>30</sup> यह सिद्धान्त इस प्रकार है कि किसी चित्र को देखने पर उसकी पूर्णांग संरचना (Pattern) मस्तिष्क में पहुंचती है तथा स्मृति में संचित अन्य पैटर्न से उसका मिलान होता है। मस्तिष्क में संरक्षित विभिन्न मानकों से भी उसकी तुलना होती है। परिणाम सकारात्मक होने से मस्तिष्क उसे अच्छा (Good) कह कर स्वीकार करता है तथा उपभोग करता है। वह चित्र एक अच्छी संरचना के रूप में स्मृति में संचित हो जाता है।<sup>31</sup>

अधिकांशतः चित्र इसी प्रकार देखे जाते हैं। चित्र देखने की यही प्रक्रिया है, परन्तु कुछ चित्र उनमें बने आकार, प्रस्तुत किये गये विषय आदि से स्मृति में संचित किसी पुरातन अनुभूति को जाग्रत कर देते हैं तब वह प्रभाव मस्तिष्क के उच्च केन्द्र में पहुंचता है। यह तरंग वहां स्थित थेलेमस ग्रन्थि को उत्तेजित करती है तथा थेलेमस के नीचे स्थित हाइपोथेलेमस ग्रन्थि भी सक्रिय हो जाती है। इन ग्रन्थियों का स्राव रक्त में मिलने से रक्तचाप बढ़ जाता है एवं अन्य संवेगात्मक व्यवहार भी प्रगट होते हैं



इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझ सकते हैं—

अत्यन्त सरल सी प्रतीत होने वाली यह पूर्ण प्रक्रिया वास्तव में अत्यधिक जटिल स्वरूप वाली है।<sup>32</sup>

विज्ञान के दृष्टिकोण से किये गये विचार से यह स्पष्ट होता है कि चित्र मन को प्रभावित करता है यहां यह ध्यान देने योग्य है कि संवेगात्मक अनुभूति जाग्रत करने के अतिरिक्त चित्र का प्रभाव मानव-मन को कार्य विशेष के लिये प्रेरणादायी भी होता

है। इस का प्रयोग वर्तमान में कला—चिकित्सा (Art Therapy) में रोगनिदान तथा चिकित्सा के लिये होता है। चित्र के दर्शन पढ़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रख कर प्राचीन भारतीय कलाशास्त्रकारों ने सामान्य जन के आवास में युद्ध के चित्र तथा राजा के प्रमोदगृह में संन्यासी, पीड़ित जन, आपदा तथा श्मशान के चित्र बनाने का निषेध किया था। मानव—मन पर कला के प्रभाव के सम्बन्ध में आचार्य भरत के विचार विशेष रूप से स्मरणीय हैं। भरत ने मानव मन में स्थित मूल भाव आठ प्रकार के बताये हैं। कला के श्रवण—प्रत्यक्षण से मन में सुप्त रस जाग्रत होते हैं। इन प्रमुख रसों तथा उनसे सम्बन्धित संवेगों की गणना भरत ने इस प्रकार की है—

प्रमुखरस	सम्बन्धित संवेग
1— शृंगार	रति
2— हास्य	प्रमोद
3— करुण	शोक
4— रौद्र	क्रोध
5— वीर	उत्साह
6— भयानक	भय
7— वीभत्स	घृणा
8— अद्भुत	विस्मय

समाहरतः यह कह सकते हैं कि मानव—मन तथा कला का घनिष्ट अन्तः सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध वस्तुपरक रूप में समझा जा सकता है। यह ध्यान में रखने योग्य है कि सर्जनात्मक क्रियाशीलता (Creative Activity) तथा सौंदर्यात्मक उपलब्धि (Aesthetic Experience) के सम्बन्ध में अभी पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। इस दिशा में व्यापक शोध कार्य अपेक्षित है। विशेषज्ञगण तथा शोधकर्ता इस दिशा में अध्ययन हेतु प्रयत्नशील हैं। विश्वास है कि इन प्रयासों से अनेक नवीन तथ्यों का उद्घाटन सम्भव होगा।

### सन्दर्भ संकेत

- 1— रुडोल्फ आर्नहेम, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, आर्ट एन्साइक्लोपीडिया पृ0— 780।
- 2— वही पृ0— 758।
- 3— तैत्तिरीय ब्राह्मण, अध्याय 7, श्लोक सं0— 15।
- 4— ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय 5, श्लोक सं0— 1।
- 5— शतपथ ब्राह्मण, अध्याय 2, श्लोक सं0— 15।
- 6— बी0एम0 बरूआ, एनशिऑन्ट थ्योरीज ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ0— 81—82।
- 7— वही पृ0— 121।
- 8— थॉमस मुनरो, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, आर्ट एन्साइक्लोपीडिया पृ0— 792।
- 9— नीहार रंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन, पृ0— 32।

- 10— थॉमस मुनरो, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, पृ०— 762 ।
- 11— कार्ल एवेंजर, साइन्स ऑफ आर्ट, पृ०— 296 ।
- 12— ब्रज कुमार मिश्र, मनोविज्ञान, पृ०— 533—34 ।
- 13— कार्ल एवेंजर, साइन्स ऑफ आर्ट, पृ०— 297 ।
- 14— विश्णुधर्मोत्तर पुराण, अध्याय 29, श्लोक सं०—51 ।
- 15— ब्रज कुमार मिश्र, मनोविज्ञान, पृ०— 242 ।
- 16— नीहार रंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन, पृ०— 35 ।
- 17— हर्बर्ट रीड, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, आर्ट एन्साइक्लोपीडिया, पृ०— 751 ।
- 18— नीहार रंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन, पृ०— 58 ।
- 19— थॉमस मुनरो, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, पृ०— 762 ।
- 20— वही, पृ०— 763 ।
- 21— वही, पृ०— 763 ।
- 22— नीहार रंजन राय, भारतीय कला का अध्ययन, पृ०—58 ।
- 23— रूडोल्फ आर्नहेम, साइकोलॉजी ऑफ आर्ट, पृ०— 751 ।
- 24— वही, पृ०— 758 ।
- 25— कार्ल एवेंजर, साइन्स ऑफ आर्ट, पृ०— 298 ।
- 26— वही, पृ०— 299 ।
- 27— सी० शिवराममूर्ति, चित्रसूत्र ऑफ विश्णुधर्मोत्तर, पृष्ठ— 184 ।
- 28— ब्रज कुमार मिश्र, मनोविज्ञान, पृ०— 658 ।
- 29— वही पृ०— 658 ।
- 30— वही पृ०— 659 ।
- 31— कार्ल एवेंजर, साइन्स ऑफ आर्ट, पृ०— 213 ।
- 32— वही, पृ०— 213 ।



# योयीकुसामा : समकालीन विश्व की प्रसिद्धतम कलाकार

आरती धनाई\*

आज यदि यह प्रश्न किया जाये कि विश्व के कला-जगत में सबसे प्रसिद्ध तथा चर्चित कलाकार कौन है तो विश्व कला की जानकारी रखने वाले सभी व्यक्ति बिना किसी दुविधा तथा विवाद के एक ही नाम लेंगे— योयी कुसामा (Yayoi Kusama) इस महान कलाकार के सम्बन्ध में विश्व के सभी विकसित देशों में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा विश्व के सभी महत्वपूर्ण संग्रहालयों में इनकी कलाकृतियां प्रदर्शित हैं। प्रसिद्ध नीलामघर क्रिस्टी-न्यूयार्क ने कुसामा का चित्र 'No 2' 2008 में 45 \$ 5.1 मिलियन में बिक्री किया था। लन्दन के प्रतिष्ठित नीलामघर सदबी ने इनकी मिश्रित माध्यम में बनी एक कलाकृति £72,500 (4.5 \$ 1,47,687) में बेची। बाद में कुसामा के 'Plastic Pumpkin' को \$ 2,64,000 में खरीदा गया। 2012 में उनकी रचना 'Flame of life dedicated to TuFu (Du Tu)' 9,60,000 US \$ में खरीदी गई थी। योयी कुसामा विश्व के कला बाजार में अत्यन्त लोकप्रिय है। उनकी छोटी-छोटी कलाकृतियों को भी कलाप्रेमी लगभग आधा मिलियन डॉलर मूल्य देकर उत्साहपूर्वक खरीदते हैं।<sup>1</sup>

कुसामा की कला का प्रशंसक कला बाजार ही नहीं है विश्व के जिस भी संग्रहालय में उनके चित्रों की एकल प्रदर्शनी आयोजित होती है वहां लाखों की संख्या में दर्शक जुट जाते हैं। इन्हें पुरस्कार देने वाले देशों की सूची इतनी लम्बी है कि उसके लिये अलग से लेख लिखने की जरूरत होगी। यहां उस सूची में से सबसे प्रतिष्ठित पुरस्कारों का ही उल्लेख किया जा रहा है। योयी कुसामा को 2003 में फ्रांस का 'Ordre des Arts et des Letters' पुरस्कार दिया गया। 2006 में इन्होंने जापान का 'The Order of the Rising Sun' पुरस्कार प्राप्त किया। ये एकमात्र महिला हैं जिन्हें अति विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार 'Praemium Imperiale' दिया गया है।<sup>2</sup> विश्व के अनेक देशों में इनके मूर्तिशिल्प प्रदर्शित हैं। इनमें 'Pumpkin' & Fukuoka Museum of Art, Tulips de Shangrila, - Euralille in Lille France, Tulips in Beverly Garden Park-Los Angeles USA, Gare do Oriente Sulstation Lisbon उल्लेखनीय हैं।<sup>3</sup>

कुसामा ने लन्दन के विख्यात ट्यूब रेलवे (Under ground Railway) की यात्री पुस्तिका के लिये आवरण पृष्ठ बनाया था। इसे प्रतिदिन हजारों यात्री देखते हैं। 2011 में लन्दन में इनका 'पोल्का डॉट्स फेस्टिवल' अत्यन्त लोकप्रिय हुआ था। ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ द्वितीय के ब्रिसबेन स्थित कोर्ट ऑफ लॉ (Court of Law) के फर्श पर कुसामा की 'Thousand Eye' नामक कृति अत्यन्त विशिष्ट है।<sup>4</sup>

---

\*शोध छात्रा, चित्रकला विभाग, एम०के०पी० (पी०जी०) कॉलेज, देहरादून

चीन से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड से इंग्लैण्ड, मैक्सिको—अमेरिका से स्पेन, जापान से फ्रांस तक विश्व के विभिन्न देशों में अत्यन्त सुपरिचित इनकी कलाकृतियों को समाज के सभी स्तरों के लोग बहुत पसन्द करते हैं। इसका क्या कारण है? इनकी कला की क्या विशेषता है? विश्व के सभी महत्वपूर्ण संग्रहालयों में इनकी कृतियाँ क्यों प्रदर्शित की गई हैं। इनके चित्रों की एकल प्रदर्शनी के आयोजन में लाखों दर्शकों की भीड़ क्यों जुटती है?

यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे देश में योयी तथा उनकी कला के सम्बन्ध में न तो कोई विचार—विमर्श हुआ है न कोई पुस्तक—आलेख आदि का लेखन हुआ है। इस उदासीनता का कारण जो भी हो इसके बाहर आकर विचार करना जरूरी है। योयी कुसामा की कला को जाने बिना समकालीन वैश्विक कला—चेतना, मानसिकता आदि को जानना असम्भव है। यह एक कठोर सत्य है कि विश्वकला चेतना से अलग—थलग रहकर किसी देश की कला का विकास सम्भव नहीं है।

आज यह समझने का प्रयास अत्यन्त प्रयोजनीय है कि सभी विकसित देशों, सभी प्रसिद्ध कला—केन्द्रों तथा सांस्कृतिक संस्थानों में योयी कुसामा की कलाकृतियाँ शीर्ष पर क्यों स्थान पा रही है? इस पर विचार करने से पूर्व कुसामा के जीवन पर एक त्वरित दृष्टिपात कर लेना उचित है।

जापान के सुन्दर पर्वतमय प्रान्त का एक छोटा सा सुन्दर नगर है मात्सुमोटो/मात्सुमोतो। यह नगर प्रसिद्ध प्राचीन मात्सुमोटो दुर्ग के लिये भी विख्यात है। इस दुर्ग को क्रोकासल (कारासुजो) भी कहते हैं। यह जापान की राष्ट्रीय धरोहर है। मात्सुमोटो के एक अत्यन्त समृद्ध तथा प्राचीन अभिजात परिवार में 22 मार्च 1929 में योयी कुसामा का जन्म हुआ। इनके परिवार की विचारधारा अत्यन्त रूढ़िवादी तथा कट्टर राष्ट्रवादी थी। कुसामा अपने माता—पिता की चौथी सन्तान थी। इनके पिता विद्वान एवं सुसंस्कृत थे किन्तु अत्यन्त विलासी प्रकृति के भी थे। उनके घर में गेशा नर्तकियों का आवागमन होता रहता था। योयी की माता अत्यन्त कठोर स्वभाव की रूढ़िवादी महिला थी। योयी छोटी उम्र से अनेक मानसिक—शारीरिक अस्वस्थताओं से पीड़ित रहती थी। साधारण कागज पर पेन्सिल से रेखांकन करना उन्हें बचपन से ही प्रिय था। 20 वर्ष (1948) की होने पर उन्होंने क्योटो के म्यूनिसिपल स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स में परम्परागत 'निहोन्गा' चित्रकला शैली की शिक्षा लेने के लिये प्रवेश लिया। यह कला मेजी (Meiji) राजवंश के काल में प्रचलित हुई थी। जापानी राष्ट्रवादी चिन्तक ओकाकुरा आदि इस कला को आधुनिक काल (1930) में प्रचलित करने की चेष्टा कर रहे थे।<sup>1</sup> इस कला की शिक्षा अत्यन्त कठिन थी इसे सीखने के लिये पूरी तरह गुरु के निर्देशानुसार अभ्यास आवश्यक था। योयी जैसी विशेष प्रतिभा सम्पन्न कलाकार को यह कला पसन्द नहीं थी किन्तु उन्होंने शिक्षा पूर्ण की तथा 1949 में उत्तीर्ण हुई। योयी के मन में परम्परागत जापानी पद्धति से चित्र—रचना करने की कोई इच्छा नहीं थी। उन्होंने पत्रिकाओं में पश्चिमी कला के चित्र देखकर सीखना आरम्भ किया अर्थात् इस विषय

में उन्हें कोई अकादमीय प्रशिक्षण नहीं मिला था। 1950 से 1957 तक उन्होंने अपने नगर में अनेक चित्र प्रदर्शनियां की जो जरा भी सफल नहीं हो पाई। उस समय वे प्रसिद्ध अमेरिकी महिला चित्रकार ज्यार्जिया ओकाफे से पत्राचार भी कर रही थी।<sup>6</sup>

कुसामा ने जापान छोड़कर पश्चिम का रुख करने का विचार बनाया। कुछ समय फ्रांस रहने के बाद ये संयुक्त राष्ट्र अमेरिका चली गई। वे कुछ दिन सिएटल नगर में ठहरी वहां दुसाते गैलरी में एक चित्र प्रदर्शनी भी की। तत्पश्चात् वे न्यूयार्क में बस गई। कुसामा से वहां के युवा चित्रकारों में शीघ्र ही अपनी पहचान बना ली। इस समय अर्थाभाव के कारण वे छोटे से सीलन भरे कमरे में रहती थी यही उनकी कार्यशाला भी थी। उन्हें अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता था। इस समय योयी ने कोलाज भी बनाये जिनमें से अधिकांश नष्ट हो गये हैं। कठोर परिश्रम ने कलाकार-जगत में उन्हें स्थान दिलाया, किन्तु आर्थिक परिस्थिति में सुधार नहीं हुआ। ज्यार्जिया ओकाफे के आग्रह पर उनके चित्र संग्राहकों ने योयी के कुछ चित्र खरीदे। यह क्रम जारी रहा तथा योयी एक अच्छे मकान में रहने लगी। इस मकान में डोनाल्ड जुड तथा मूर्तिकार ईवा हेस की कार्यशाला थी। वहां कुसामा ने विशाल संस्थापन बनाने आरम्भ किये।<sup>7</sup>

इस समय वियतनाम से अमेरिका के युद्ध के विरोध में योयी ने न्यूयार्क की सड़क पर निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन किया जिससे ये प्रकाश में आई किन्तु इस कृत्य से इनके विरुद्ध अपप्रचार तथा तीक्ष्ण समालोचना भी हुई। उग्र नारीवादी विचारधारा तथा कला में नारीवादी चिन्तन के प्रदर्शन से इन्हें परिचिति मिली किन्तु समालोचना का सामना भी करना पड़ा।<sup>8</sup>

योयी से आयु में 21 वर्ष बड़े जोसेफ कॉर्नेल (Joseph Cornell) न्यूयार्क में इनके एकमात्र अन्तरंग पुरुष मित्र थे। दोनों जीवन भर घनिष्ट सम्पर्क में बंधे रहे। दोनों के मध्य एक ऐसा प्लेटोनिक सम्बन्ध था जिसने कुसामा के जीवन के सभी पक्षों को अत्यधिक प्रभावित किया। 1972 में जोसेफ कॉर्नेल की मृत्यु हुई।<sup>9</sup> इस घटना से कुसामा अत्यधिक विचलित हो गई थी। इस समय न्यूयार्क के कलाजगत में बड़े पैमाने पर बदलाव हो रहा था। कुसामा की कला के प्रति जनता की रुचि नहीं थी। इन विपरीत स्थितियों से कुसामा की मानसिक अस्वस्थता बढ़ने लगी।

एकाकी, दुखी, आर्थिक संसाधन रहित कुसामा 1973 में जापान लौट गई। वे जापान के कला आन्दोलन का हिस्सा कभी नहीं थी अतः जापानी कलाकारों में उनकी स्थिति विदेशी कलाकार जैसी बनी रही। बढ़ती मानसिक अस्वस्थता ने उन्हें मनोरोग चिकित्सालय में भर्ती होने को बाध्य कर दिया। वे टोक्यो के निकटवर्ती Seiya चिकित्सालय में भर्ती हो गई। तब से आज तक यह चिकित्सालय ही कुसामा का घर है यहां से कुछ दूर पर उनकी कार्यशाला है।

कुसामा ने विभिन्न कलाविधाओं में अभिव्यक्ति की है। उनके 7 कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं तथा अनेक लोकप्रिय पुरस्कृत उपन्यास भी उन्होंने प्रस्तुत किये

हैं। कला रचना कुसामा की जीवनचर्या का अभिन्न अंग है। वे जब भी स्वस्थ अवस्था में होती है प्रतिदिन बहुत से चित्र बनाती हैं। इनके बनाये छोटे-छोटे रूपांकन भी अत्यन्त लोकप्रिय हैं। उम्र के इस पड़ाव पर भी उनका कलाकर्म पूरी तरह जारी है। कला के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिये कुसामा बारम्बार कहती है— “मैं कला के लिये ही जीवित हूँ। कला नहीं होती तो मैं बहुत पहले आत्महत्या कर लेती।”

कुसामा के संक्षिप्त जीवन परिचय के बाद उनकी कला रचना के आधारभूत तत्व पर दृष्टिपात करना उचित है। प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ तथा कला समीक्षक डाड मॉरिस के अनुसार योयी कुसामा की कला में उज्ज्वल रंगों का प्रचुर प्रयोग है। एक सरल सुन्दर निरन्तरता से चित्र में एक ऐसी स्वच्छन्द गति की रचना होती है जो सबको आकर्षित करती है। जेम्स फर्गुसन का मानना है कि ऐकेडमिक शिक्षा न मिलने के कारण इनकी अभिव्यक्ति अकृत्रिम है। जो बिम्ब उनके मन में आता है उसी का अंकन वे करती हैं। आरम्भ से ही योयी ने अपने चित्रों को किसी शैली की कृत्रिमता में नहीं बांधा है। डॉट (Dot) या नेट (Net) के प्रति उनका अत्यधिक लगाव अन्तर्मन से आता है इसीलिये वे उसे अंकित करती हैं। न्यूयार्क में प्रस्तुत उनकी ‘नारसिस गार्डन सिरीज’ की विश्व के कला समालोचकों ने कठोर तथा नकारात्मक आलोचना की थी किन्तु यह इतनी लोकप्रिय हुई कि Le Consordium Digom 2000 में, Kunstverein Braunsberg 2003 में, तथा Whitney Bienniclen Central Dark New York में तथा Jardin de Tuileries 2010 में पेरिस में प्रदर्शित होकर लाखों दर्शकों द्वारा देखी गयी।

अपने सुप्रसिद्ध चित्र ‘फ्लावर’ की रचना प्रक्रिया के विषय में कुसामा इस प्रकार कहती हैं— “एक दिन मैंने एक टेबलक्लाथ पर लाल फूलों का एक अलंकरण देखा। कुछ समय बाद प्रतीत हुआ मानो कक्ष की छत—दीवारें सभी उस फूल से ढक गई हैं। तत्पश्चात् ऐसा जान पड़ा कि लाल फूल का अलंकरण मेरी देह में, ब्रह्माण्ड में भर गया है तथा मुझे असीम समय मानो महाकाल में ले जा रहा है। मुझे लगा यह कल्पना नहीं है। यथार्थ में घटना घट रही है। मुझे यह लगा कि लाल फूल मुझे इस जीवन से दूर ले जायेंगे। मैं दौड़ कर सीढ़ी से ऊपर चढ़ने लगी, देखा सीढ़ियां एक के बाद एक गिरती जा रही हैं मेरे टखने में दर्द होने लगा।”

पोलका डाट्स के सम्बन्ध में कुसामा कहती है— कि एक पोलका डॉट सूर्य के समक्ष है जो विश्व के प्राण का मूल है। पोलका डॉट् चन्द्रमा के समक्ष भी है— गोल, कोमल, अनुभवहीन, अन्जान। पोलका डॉट्स गति भी है ..... पोलका डॉट असीम महाशून्य के समान है।

## सन्दर्भ संकेत

- 1- Life of Yayoi Kusama : Infinity NeF The autobiography Translated in English by Ralph Mearthy, University of Chicago, Chicago US 2011.